" रामचंद्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना संभव नहीं। ...फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है , पुराना घबराता है , पंडित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनको एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है। " - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रोफेसर-आलोचक हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि आलोचना और संस्थान के बीच गहरा रिश्ता हुआ करता है। नामवर सिंह ने 'वाद विवाद संवाद' के एक निबंध में एफ.आर. लीविस के हवाले से इस संदर्भ में विस्तार से लिखा है। दूसरी बात यह कि शुक्ल जी केवल हिंदी साहित्य के आलोचक नहीं हैं। वे भारतीय आलोचना की उस महान परंपरा एवं संस्कृति की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं जो भरतमुनि से शुरू होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह कि हमारे जमाने में केवल सिद्धांत बघारकर खुद को 'महान' घोषित करने-करवाने वाले कुछ आलोचकों की तरह वे शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक मात्र नहीं हैं। ऐसे भी शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक प्रायः पूरी तरह विश्वसनीय नहीं होता है। जब तक सैद्धांतिक आलोचना के सुनिर्णीत प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभाओं की सही-सही व्याख्या नहीं होती, तब तक वह आलोचना केवल सहित्य का ज्ञान कांड बनकर रह जाने के लिए अभिशप्त होती है। रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांत का निरूपण अतीत की महान साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के साथ ही अपने समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना सच्चे अर्थों में 'सभ्यता समीक्षा' सिद्ध होती है। इसलिए उनके आलोचना सिद्धांत को किसी एक आयाम में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी वह अद्वितीय रसार्द्रता एवं रसग्राहिता शक्ति है, जिसके बल पर वे हिंदी साहित्येतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उस जमाने में प्रचलित 'कवि-कीर्तन' की परंपरा का निषेध करते हुए सैद्धांतिक वाग्जाल से हटकर हर तरह की रचनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

सिद्धों और नाथों के साहित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी 'सांप्रदायिक शिक्षा' बनाम 'शुद्ध साहित्य' का सवाल उठाते हैं। 'रामचरितमानस' की आलोचना के क्रम में वे मार्मिक स्थलों की पहचान पर बल देते हैं। 'रामचंद्रिका' की सीमाओं का निर्देश करते हुए वे साहित्य में स्थानीय रंगत का मुद्दा उठाते हैं। बिहारीलाल के प्रसंग में वे भाषा की समासशक्ति एवं समाहारशक्ति की बात करते हैं। मतिराम के कवित्व की चर्चा के दौरान वे 'रससिद्धांत और प्रसादपूर्ण भाषा रीति' तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन से छाँटकर लिए हुए मर्मस्पर्शी चित्रों में भरे भाव की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि "प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।" पंत के संदर्भ में वे सच्चे स्वच्छंदतावाद के आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला पर बात करते हुए वे कवि की 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' तथा 'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने' के उनके प्रयास को रेखांकित करते हैं।

कहना न होगा कि जो आलोचक इतने सारे कोणों से साहित्य पर दृष्टिपात कर रहा हो, उसे केवल रसवादी या लोकवादी आचार्य कहकर छुट्टी पा लेना कतई जायज नहीं है। शुक्ल जी हमारी भाषा और साहित्य के एक महान व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने कदाचित पहली बार हजार वर्षों से विकसनशील हिंदी साहित्य की परंपरा को कायदे से साहित्येतिहास का स्थापत्य प्रदान किया। शुक्ल जी के निधन के ठीक पहले उनके अपराजेय व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में लिखा था कि "भारतीय काव्यालोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ।"

याद रहे कि कि रामचंद्र शुक्ल की महानता का एकमात्र कारण यही नहीं है, हालाँकि यह उनकी महानता का एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः उनकी वास्तविक महानता को हम भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। कारण यह कि शुक्ल जी को भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिंतन की उस परंपरा के पुनराख्यान का श्रेय प्राप्त है, जिसका आरंभ भरतमुनि से और अंत मध्यकाल में मम्मट के साथ हो गया था। मम्मट की पीठ पर रीतिकाल की परंपरा के जो आचार्य आए, उनकी शुक्ल जी के महान व्यक्तित्व से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मम्मट के बाद दो-ढाई सौ वर्षों की आचार्यत्व की लंबी परंपरा के दौरान हमारी आलोचना के अंर्तगत किसी विशिष्ट प्रतिमान या उल्लेखनीय मूल्य का निर्धारण नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी भी भाषा या साहित्य में रामचंद्र शुक्ल जैसा व्यक्तित्व अपने समय की सभ्यता एवं संस्कृति के भीतर गहरे आलोड़न तथा उसकी आंतरिक माँग के दबाब के तहत पैदा होता है।

शुक्ल जी के समय में संस्कृतिकर्मियों एवं बुद्धिजीवियों के सामने पश्चिम के बौद्धिक उपनिवेशवाद के चलते पैदा हुई चुनौतियाँ थीं, जिसने माइकल मधुसूदन दत्त के समय से ही भारतीय मनीषा को आक्रांत कर लिया था। मैनेजर पांडेय द्वारा संपादित सखाराम गणेश देउसकर की पुस्तक 'देशेर कथा' के 'सम्मोहन चित्त विजय' वाले अध्याय में विस्तार के साथ बतलाया गया है कि अँग्रेजी राज ने किस हद तक भारतीय शिक्षित समुदाय की 'साइकी' या मनीषा को सम्मोहित कर लिया था। ऐसे में भारतीय साहित्य एवं समालोचना के क्षेत्र में भी बड़ी तेजी के साथ पश्चिम के सारे मूल्य प्रतिष्ठित होते चले जा रहे थे और राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ ज्ञान के विविध क्षेत्रों को भी उपनिवेशवाद की मानसिक गुलामी ने जकड़ रखा था। परिणामतः हमारी अपनी मौलिक सोच-समझ क्षीण हो रही थी। उपनिवेशवाद की इस बौद्धिक चुनौती का सामना शुक्ल जी ने पुरजोर ढंग से साहित्यालोचन के धरातल पर किया। उन्होंने लिखा कि आजकल पाश्चात्यवाद वृक्षों के पत्ते, कुछ हरे नोंच लाए गए कुछ सूखे गिरे हुए, यहाँ पारिजात पत्रों की भाँति प्रदर्शित किए जा रहे हैं। इसलिए उन पेड़ों की परीक्षा आवश्यक है, जिनके ये पत्ते हैं। वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने साहित्य चिंतन के क्षेत्र में व्याप्त मध्ययुगीन मिथकीय वातावरण को अपनी प्रतिभा से ध्वस्त कर साहित्य मीमांसा को बहुत हद तक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। जर्मन विद्वान हेकेल की पुस्तक 'द रिड्ल ऑफ यूनिवर्स' का उन्होंने 'विश्वप्रपंच' नाम से अनुवाद करके उसकी जो तकरीबन सवा सौ पृष्ठों की पांडित्यपूर्ण भूमिका लिखी, वह आज भी हिंदी के विचार साहित्य की अद्वितीय एवं अमूल्य निधि है। जब पूरी दुनिया में डार्विन का विकासवाद जोर-शोर से फैल रहा था और सृष्टि की विकासमूलक व्याख्या की जा रही थी, तब उन्होंने भारतीय मिथकीय परंपरा में प्रचलित अवतारों की कथा का पहली बार वैज्ञानिक परिदृश्य के साथ मेल दिखाया। इस प्रकार शुक्ल जी न केवल वैज्ञानिक पद्धति के तहत मिथकीय परंपरा पर विचार करते हैं, बल्कि मिथकीय परंपरा को भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका के माध्यम से वे साहित्यानुशीलन के लिए वैज्ञानिक एवं सामाजिक धरातल की जरूरत पर बल देते हुए साहित्य को व्यक्ति केंद्रित संकीर्ण घेरे से बाहर निकालकर एक ठोस सामाजिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। अपने जमाने में प्रचलित अनेकानेक आध्यात्मिक एवं धार्मिक मान्यताओं का खंडन करते हुए उन्हें वे साहित्य क्षेत्र से बाहर की वस्तु करार देते हैं। 'रस मीमांसा' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।" इसी प्रकार जब वे धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन करते हैं, तो उनका लहजा कबीर की तरह आक्रामक दिखाई देता है : "ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है, उनके संबंध में जो पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (छः दिनों में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम-हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि, आदि) हैं, वे अब काम नहीं दे सकतीं।" वस्तुतः शुक्ल जी ने विकासवाद के सिद्धांत के तहत साहित्य को व्यक्ति के सामाजिक जीवन से अविछिन्न बताते हुए उसके समाजोन्मुख रूप पर बल दिया। अपनी इसी भूमिका में उन्होंने लिखा : "विकास परम सत्य है, बड़े महत्व का सिद्धांत है। सामाजिक उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न इसलिए रचित हैं कि हम समष्टि के अंग हैं, अंग भी ऐसे कि चेतन हो गए हैं। अतः समष्टि में उद्देश्य-विधान का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि हम उसके एक अंग होकर अपने-आपमें उसका अनुभव करते हैं।"

रामचंद्र शुक्ल जहाँ एक हद तक भौतिकवादी थे और साहित्य को समाज का वस्तुगत उत्पाद मानते थे, वहीं दूसरी ओर वे संस्कार की दृष्टि से सच्चे अर्थों में वैष्णव थे। आम तौर पर भौतिकवाद और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ वैष्णव संस्कार की परंपरा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। पर शुक्लजी के व्यक्तित्व में हमें 'विरुद्धों का सामंजस्य' दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वे वस्तुवादी और बुद्धिवादी के बजाय चैतन्यवादी प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे हेगेल की अपेक्षा इमानुएल कांट के ज्यादा निकट दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संसार को भ्रम और मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य की तुलना में जगत को परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने वाले रामानुज के करीब सिद्ध होते हैं। संभवतः इसी कारण उन्होंने धर्म को सर्वत्र व्यक्तिगत साधना के बजाए लोकमंगल के अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है। जगह-जगह सामजिक स्थिति और रचनाकर्म के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करने की कोशिश के चलते नलिन विलोचन शर्मा ने उन्हें साहित्य का विधेयवादी (पोजिटिविस्ट) इतिहासकार बतलाया है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि शुक्ल जी विधेयवादी हैं, पर आश्चर्यजनक नव्यता के साथ।

स्मरणीय है कि सच्चा वैष्णव बुनियादी तौर पर विद्रोही हुआ करता है। चूँकि वह चापलूस या खुशामदी कदापि नहीं हो सकता, इसलिए दरबारी वातावरण उसको रास नहीं आता। वैष्णवता की इसी सत्यनिष्ठ भावभूमि से हिंदी के इस प्रथम महान आलोचक का जन्म हुआ, जिसे जनसामान्य से विलग रहने वाले राजदरबारी खुशामदी रीतिकवियों के बजाए जनभावना एवं जनमानस के ज्यादा करीब रहने वाले निःस्वार्थ भक्त कवि अच्छे लगे।

शुक्ल जी मोटे तौर पर गांधी-युग के लेखक थे और कहना न होगा कि उस युग में गांधीवाद के प्रभाव से मुंशी प्रेमचंद जैसे यथार्थदर्शी कलाकार भी किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित थे। गांधी का वैष्णवता में गहरा विश्वास था और रामचंद्र शुक्ल भी उसी भावभूमि की उपज थे। परंतु तोल्सतोय, गांधी आदि महापुरुषों की 'निष्क्रिय प्रतिरोध' एवं 'दुर्जनों-दुष्टों' से भी सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने वाली भावना का जमकर विरोध करते हुए शुक्ल जी ने

'रस मीमांसा' में लिखा कि "दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा माँगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-सुश्रूषा करने में ही कर्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती... मनुष्य के शरीर में जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि में हमें एक ओर अन्याय के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध की चेतना दिखाई पड़ती है, तो दूसरी ओर चापलूसी और खुशामद करने या चाहने वाली सामंती-दरबारी मानसिकता के प्रति वितृष्णा भी। लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदी कवियों को सच्चा कवि मानने से इनकार करते हुए वे लिखते हैं कि "ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौंदर्य नहीं ढूँढ़ा करते, वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौंदर्य का दर्शन करते हैं, जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती।"

जाहिर है कि शुक्ल जी के पूर्व रीतिकाव्य का विरोध आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया था। पर शुक्लजी ने इस विरोध को एक सामाजिक-सांस्कृतिक आधार प्रदान किया। रीतिकवियों पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखा कि एक ओर ऐसे कविराज थे, जो राजाओं के मुँह में मकरध्वज डालते थे तो दूसरी ओर उनके कान में मकरध्वज डालनेवाले कविराज भी थे। इस प्रकार शुक्ल जी रीतिवाद का विरोध करते हुए प्रकारांतर से सामंती विलासिता एवं भोगवाद के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और इसी क्रम में उनके आलोचनात्मक प्रतिमान निर्धारित होते हैं, जिनके मूल में लोकमंगल की भावना निहित है।

गौरतलब है कि हिंदी आलोचना में 'लोक' शब्द का इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्र शुक्ल को ही प्राप्त है और उनके लिए लोक का अर्थ है 'जगत'। उनकी यह धारणा अँग्रेजी के 'फोक' या हिंदी में उसी अर्थ में अनुदित 'लोक' से भिन्न एवं व्यापक धारणा है। अध्यात्मवादियों की तरह लोक को जड़ और स्थिर मानने के बजाए उनका लोक-जगत सत्य एवं विकसनशील है। मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को लोकाधृत मानते हुए वे लिखते हैं कि "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" लोकचित्तवृत्ति के काव्य परंपरा के साथ सामंजस्य के संदर्भ में कविता की पहचान निरुपित करते हुए उन्होंने लिखा है : "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है।" उनकी स्पष्ट धारणा है कि लोक हृदय की सच्ची पहचान के बगैर कोई सही मायने में कवि या कलाकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि कला और जीवन का लोकपाक धरातल समरूप है। यदि गंभीरतापूर्वक विचारें, तो स्पष्ट होगा कि शुक्लजी का साधारणीकरण वाला सिद्धांत भी लोकानुभूतिपरक ही है। इस प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रत्यय व पद्धति को वे अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुरूप यथार्थ की भूमि पर आधृत करके अनुभवगम्य लौकिक भावभूमि प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हुए बगैर केवल रसवाद की कसौटी पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना असंभव है।

विचित्र बात है कि जिन रामचंद्र शुक्ल ने 'रस मीमांसा' की रचना की, उन्होंने ही 'रसवाद' के विरुद्ध खंडनात्मक रुख भी अख्तियार किया। 'रसवाद' के खिलाफ पोलेमिक्स रचने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि मध्यकाल तक आते-आते 'रस सिद्धांत' का सत्व स्खलित हो चुका था तथा उसकी 'सैद्धांतिक गतिकी' या 'गतिमय सिद्धांतकी' जड़ता की अवस्था में पहुँच चुकी थी। इस ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं : "रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भावक्षेत्र से निकाले जाकर अलंकार के खाते में हाँक दिए गए। ...हमारे यहाँ के कवियों को रीतिग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्तव्य की समाप्ति मानने लगे। वे इस बात को भूल चले की किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है।" शुक्ल जी इस बात से बिल्कुल बेखबर नहीं थे कि प्रायः काव्यशास्त्र या आलोचना के महान कहे जाने वाले प्रतिमानों में अपनी तरह के आलोचकीय वर्चस्व के बीज छिपे होते हैं। इसी वजह से प्रतिमानों की बहुलता और उनकी विशिष्ट मुखरता-विधियों से निरंतर लोकतांत्रिक आलोचनात्मक संबंध बनाने के उनके बौद्धिक परिश्रम में भी इस वर्चस्व के प्रतिरोध की एक विधि अवश्य निहित है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है - 'भाव भेद रस भेद अपारा।' स्पष्ट ही भाव और रस को किसी संख्या में बाँधना असंभव है। काव्यशास्त्र में वर्णित नौ रस तो वस्तुतः उपलक्षण मात्र हैं। वे कदापि अंतिम नहीं माने जा सकते। दूसरे शब्दों में कहें, तो जब भी कोई बड़ी प्रतिभा जन्म लेती है, तो वह अपने कृतित्व से भावक्षेत्र और रसक्षेत्र का विस्तार करती है। उदाहरण के लिए सूरदास जैसे कवि के चलते 'वात्सल्य' रस की कोटि में शुमार हुआ। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर सरीखे कवियों के कृतित्व ने राष्ट्रीयता को रस की ऊँचाई तक पहुँचा दिया।

रीतिग्रंथों की समस्या यह थी कि इनके चलते साहित्य में भावक्षेत्र अत्यंत संकुचित हो गया था। सबसे पहले भोज ने, जो एक सामंत था, 'श्रृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखकर श्रृंगार को 'रसराज' के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके परिणामस्वरूप अन्य रस काव्यक्षेत्र से लगभग बहिष्कृत हो गए। इतना ही नहीं, मध्यकाल में श्रृंगार के नाम पर जो रचनाएँ लिखी जा रही थी, उनमें से ज्यादातर में श्रोता या पाठक के मन को किसी उज्ज्वल ऊँचाई पर पहुँचाने की सामर्थ्य के बजाए छिछली रसिकता थी। हिंदी में केशवदास की रसिकता सर्वविदित है। बुढ़ापे में सुंदर स्त्रियों द्वारा 'बाबा' कहे जाने पर उन्हें जो पीड़ा हुई थी, उसके मद्देनजर वे कथित तौर पर एक बड़े 'रसिक' जीव सिद्ध होते हैं :

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं।।

गौरतलब है कि ऐसे रसिक व्यक्ति के बारे में शुक्ल जी ने लिखा : "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए। ...प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ...वे वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। ...केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए।" परंपरा से कवियों का जो पदानुक्रम बना हुआ था, उसमें सूरदास और तुलसीदास के बाद केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त था। मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में तो केशवदास को बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया था। कहने की जरुरत नहीं कि आचार्य शुक्ल ने इस पूरे पदानुक्रम को इस हद तक बदल दिया कि डॉ. नगेंद्र की लाख कोशिशों के बावजूद केशव को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस नहीं मिल सकी। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने 'केशव की कविताई' शीर्षक निबंध लिखकर केशव को हिंदी कविता की परंपरा की मुख्यधारा से जोड़ने की जबरदस्त पेशकश की, परंतु एक बार शुक्ल जी द्वारा मुख्यधारा से बाहर कर दिए जाने के बाद पुनः उसमें उनकी वापसी संभव न हो पाई। इससे पता चलता है कि कैसे बड़ा आलोचक अपने आलोचनात्मक मूल्यों के तहत साहित्येतिहास में कवियों के पहले से बने बनाए पदानुक्रम को बदल देता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में एलियट के पूर्व शेली, कीट्स और बायरन को आधुनिक काल में महाकवि का दर्जा प्राप्त था। परंतु एलियट के बाद जॉन डन, विलियम ब्लेक जैसे दार्शनिक कवियों को केंद्रीय स्थान मिला। रामचंद्र शुक्ल ने केशवदास को अपदस्थ कर मलिक मुहम्मद जायसी का उद्धार किया और हिंदी साहित्य में सूर एवं तुलसी के बराबर उन्हें स्थान दिया। स्मरणीय है कि मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' में जायसी को शामिल नहीं किया गया था। जायसी के 'पद्मावत' में नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी हिंदी साहित्य में अद्वितीय घोषित करने के साथ ही मध्यकाल में जायसी को हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाले कवियों में एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उनका मानना था कि भक्तिकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने चुनौती है और कहना न होगा कि इस चुनौती का अपने स्तर पर उन्होंने सामना भी किया।

वस्तुतः शुक्ल जी का रीतिवाद-विरोध उनकी सामंत-विरोधी चेतना की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि है। इसीके चलते वे रीति कवियों के बजाए भक्त कवियों को तरजीह देते हैं और आगे चलकर भारतेंदु हरिशचंद्र को उनकी सामाजिक चेतना के मद्देनजर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षयिष्णु परंपरा से लोहा लेते हुए शुक्ल जी रसवादी होने के बावजूद अपनी आलोचना में प्रकारांतर से रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख अख्तियार करते हैं, 'पॉलेमिक्स' रचते हैं। इसके साथ ही वे पश्चिम के औपनिवेशिक वैचारिक एवं सांस्कृतिक आक्रमण से भी दो-चार होते हैं। उस जमाने में फ्रांस में उत्पन्न बहुत सारे वाद इंग्लैंड से होते हुए बंगाली भाषा के माध्यम से भारत में घुसपैठ कर रहे थे। सन् 1890 में रवींद्रनाथ की 'निर्झरेर स्वप्नभंग' कविता प्रकाशित हुई थी और तब तक उनकी ख्याति धीरे-धीरे पूरे भारत में फैल गई थी, जिसका प्रभाव हिंदी की आरंभिक छायावादी कविता पर बहुत हद तक पड़ा था। इतने बड़े माने जाने वाले भारतीय कवि के बारे में शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा कि वे बहुत बड़े आलंकारिक मालूम पड़ते हैं। इसी प्रकार उस जमाने में लिखी जा रही छायावादी कविताओं की अभिव्यंजना शैली एवं उनमें निहित रहस्यात्मकता का विरोध करते हुए उनका कहना था कि "छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र, वस्तुविन्यास की विश्रृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभावपक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरोन्मुख काव्यक्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया।" आज यह सर्वविदित है कि शुक्ल जी की आलोचना से कालांतर में छायावाद में गुणात्मक परिवर्तन आया और वह आगे चलकर समृद्ध हुआ। नतीजतन उसमें 'कामायनी' एवं 'राम की शक्तिपूजा' जैसी श्रेष्ठ कविताओं की रचना संभव हो सकी।

वे हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने 1929 ई. में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' जैसा महत्वपूर्ण निबंध लिखा और यह जानी हुई बात है कि यह निबंध छायावादी काव्यांदोलन की छाया में लिखा गया था। तब तक छायावाद के कई कवि अनेकानेक प्रकृति विषयक कविताएँ लिख चुके थे, जिनमें पंत का 'पल्लव' संग्रह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ऐसे में शुक्ल जी अपनी पूरी साहित्यिक परंपरा का संधान करते हुए इस संदर्भ में वाल्मीकि की महानता पर प्रकाश डालते हैं और छायावाद की शक्ति एवं सीमा का निर्देश करते हैं। वे छायावाद के हृदय पक्ष को स्वीकृति प्रदान करते हैं, लेकिन उस पर हावी अभिव्यंजनावादी तत्वों को अस्वीकार करते हैं। अभिव्यंजनावाद उन्हें एक तरह का अलंकारवाद प्रतीत होता है, जिसे वे 'वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' के रूप में अभिहित करते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति के चितेरे कवि माने जाने वाले सुमित्रानंदन पंत के बारे में वे लिखते हैं कि "पंतजी की 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक है और बहुत से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है, जिसके अनुसार कविकल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना... करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने को स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।" इसी प्रकार 'रहस्यवाद' को भी उस जमाने की हिंदी कविता के स्वाभाविक विकास में बाधक मानते हुए उन्होंने लिखा कि "हिंदी में स्वच्छंदतावाद का प्रवाह रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त प्रभाव तथा अँग्रेजी से तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोगों के ज्यों के त्यों हिंदी अनुवाद जड़ी रचनाओं के चलते अवरुद्ध हुआ। 'कनक प्रभात', 'विचारों में बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल', 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल क्रांति', ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। ...काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तुयोजना चाहे लोकोत्तर हो, पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा, तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा?" कहना न होगा कि शुक्लजी की आलोचना के बाद अभिव्यंजनावाद एवं रहस्यवाद का धुंधलका छट जाता है और छायावाद प्रौढ़ता प्राप्त करता है। उनकी धारणा थी कि स्वच्छंदतावाद लोकजीवन की सरलता, सरसता से आप्लावित एक ऐसा काव्यांदोलन था, जिसमें प्राचीन रुढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। हिंदी में उन्हें इसका आरंभिक रूप श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्य में जब दिखाई पड़ा, तो उन्होंने इसकी सराहना की। परंतु जब छायावाद के नाम पर रचित ज्यादातर कविताओं में उन्हें अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ गुंजलक मारकर बैठी रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ प्रचुर मात्रा में दिखाई देने लगीं, तो एक जिम्मेदार आलोचक के तौर पर उन्होंने इसकी बखिया उधेड़नी शुरू की। वस्तुतः छायावादी कविता में मौजूद रहस्यवादी चेतना का शुक्लजी की वैज्ञानिक परिदृष्टि से कोई मेल नहीं बैठ रहा था। बावजूद इसके यह ध्यान देने योग्य बात है कि कविता में जहाँ-जहाँ रहस्यवाद अपनी पूरी स्वाभाविकता के साथ संचरण करता है, उसका समर्थन करने में शुक्ल जी कदापि नहीं हिचकते। उदहारण के लिए पंत की 'स्वप्न' एवं 'मौन नियंत्रण' कविता उन्हें रहस्यवाद की स्वाभाविक भूमि पर संचरित होती दिखाई देती है। उन्होंने लिखा है - "पंतजी की रहस्यभावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (डागमेटिक) नहीं। ऐसी रहस्यभावना इस रहस्यमय जगत के नाना रुपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी-कभी उठा करती है। ...'गुंजन' में भी पंतजी की रहस्यभावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है।" उनके ऐसे अनेकानेक वक्तव्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वे दुराग्रही आलोचक नहीं थे।

कविता को शुक्लजी ने भाव-व्यापार माना है और इस क्रम में 'हृदय की मुक्तावस्था' या रसदशा को महत्व प्रदान कर उन्होंने कदाचित इसे पुष्ट भी किया है। उनके अनुसार लोक हृदय मंत लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। स्मरणीय है कि भाव पर बल देने के बावजूद वे रूप को नकारते नहीं है। उन्होंने लिखा है कि "जगत अनेक रूपात्मक है और हमारा हृदय अनेक भावात्मक है।" उनके अनुसार कवि का काम इन दोनों के बीच रागात्मक संबंध कायम करना है। इतना ही नहीं, वे भावना को ज्ञान का सहचर मानते हैं। उन्होंने भाव को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष बताते हुए यह भी लिखा है कि "दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं।" कवियों की 'अंतर्वृति का सूक्ष्म व्यवच्छेद' करने के पूर्व शुक्लजी उनके जीवन-वृत से भी पाठकों को अवगत कराते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध, शिल्प आदि की परस्पर-संबद्धता से ही काव्यार्थ निर्मित होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती है, तो दूसरी ओर वह उन वस्तुओं के अनुरूप भावों का अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और कविता में कवि कर्म विधान के ये दोनों पहलू अन्योन्याश्रित होते हैं। परंतु ध्यान देने की बात है कि यदि 'अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है', तो यह कार्य वस्तुनिष्ठ तथ्यों का सहारा लिए बगैर असंभव है। एलियट के शब्दों में कहे, तो बिना वस्तुगत प्रतिरूप के किसी भाव या अनुभूति को दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

रामचंद्र शुक्ल का एक बहुत बड़ा अवदान है 'रस निष्पत्ति' को रहस्य के आवरण से बाहर निकालकर उनके मनोवैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा। 'नाट्यशास्त्र' में भरत मुनि ने रस की निष्पति के बारे में लिखा है "विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्ररस-निष्पतिः।" वस्तुतः यह प्रक्रिया एक मनोदैहिक (साइकोसोमैटिक) प्रक्रिया है। परंतु भरत के बाद भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों एवं निकायों का इतना ज्यादा असर हुआ कि अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर रस को आनंदमय मानते हुए बल देकर कहा कि यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। कालांतर में रस को आनंदस्वरूप मानकर उसे ब्रह्म के साहचर्य से आत्मा को प्राप्त होने वाले तथाकथित आनंद का सहोदर घोषित कर दिया गया। पंडितराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा -

"सत्वोद्रेकादखंडस्वप्रकाशानंद चिन्मयः
वेद्यांतरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः
लोकोत्तरचमात्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में रस के आध्यात्मिक आनंदस्वरूप होने का खंडन करते हुए साफ लिखा कि "अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है। ...इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है... उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" 'रस मीमांसा' में एक लंबा उदाहरण देकर वे बतलाते हैं कि क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपने प्रकृत रूप का त्याग करके आनंदस्वरूप कदापि नहीं बनते। इसी प्रकार 'सत्यहरिश्चंद्र' की शैव्या के उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि दुखात्मक भाव आनंद के बजाए दुख की ही अनुभूति कराते हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार दुख की अनुभूति रसात्मक नहीं मानी जाती थी। इसका खंडन करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि "करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि आनंद में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है।" निश्चित तौर पर रसात्मक अनुभूति से व्यक्तित्व समृद्ध होता है, निजता का परिहार होता है और पाठक लोक हृदय में लीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तो हम उच्च कोटि की रसदशा को प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। ऐसे तो आलंबन कोई व्यक्ति विशेष ही होता है, पर उसमें लेखक ऐसे गुणों एवं धर्मों की प्रतिष्ठा करता है, जो सबके हो जाते हैं और सबमें समान भावों की उत्पत्ति या अनुभूति कराते हैं। इससे विलग जब श्रोता, पाठक या दर्शक काव्य या नाटक में आए किसी पात्र से शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है, तो शुक्लजी की दृष्टि में यह मध्यम कोटि की रस दशा है। उनके अनुसार उपरोक्त दोनों ही स्थितियों से भिन्न जब रचनाकार चमत्कार और वैचित्र्य से पाठक को आश्चर्य और कुतूहल मात्र की अनुभूति कराने की चेष्टा करता है, तो यह निम्न कोटि की रसदशा होती है, जिसके मूल में व्यक्तिवाद होता है।

विजयदेव नारायण साही की शब्दावली उधार लेकर कहें तो आलोचना यदि साहित्य का दर्शन शास्त्र है, जिसके तहत संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाया जाना जरूरी है, तो जाहिर तौर पर रामचंद्र शुक्ल एक भाववादी आलोचक एवं विचारक सिद्ध होते हैं। परंतु उनका भाववाद एक ऐसा विवेकशील भाववाद है, जो अंततः भौतिकवाद का सहयोगी सिद्ध होता है। सौंदर्यानुभूति-विषयक भाववादी धारणा के बजाए उनके दृष्टिकोण में भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं। उन्होंने लिखा है कि "जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से अलग सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं।" आगे वे 'तदाकार परिणति' पद का प्रयोग करते हुए सिद्ध करते हैं कि "सौंदर्य न तो मात्र चेतना में होता है और न ही सिर्फ वस्तु में, दोनों के संबंध से ही सौंदर्यानुभूति होती है।" वे जड़ता के बजाए गति में सुंदरता को रेखांकित करने के आग्रही हैं। भले ही वह गति सफल हो या विफल। शुक्ल जी की सौंदर्य-दृष्टि में निहित संघर्ष की चेतना तब और खुलकर सामने आती है, जब वह कहते हैं कि 'विफलता में भी एक निराला विषण्ण सौंदर्य होता है।'

इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि शुक्लजी के लिए आलोचना साहित्यिक कृतियों के निष्क्रिय रसास्वादन के बजाए एक सक्रिय मूल्यांकन है और उनका प्रत्येक मूल्यांकन गहरे वैचारिक संघर्ष का नतीजा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि "प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रसरूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अंत निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्ल जी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।"

किसी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण में आलोचना की भूमिका की शिनाख्त करते हुए अज्ञेय ने कहा था : "हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा, क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना संस्कृति संभव नहीं है।" इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु सिद्ध होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के बारे में लिखा है : "आचार्य का विषय प्रतिपादन जैसा गुरु गंभीर है उसके बीच उनका सूक्ष्म व्यंग्य और तीव्र तथा पैना हो गया है, घनी-बड़ी मूँछों के बीच हल्की मुस्कान की तरह।"